

**प्रश्न : 1.** इतिहास क्या है? इसके अध्ययन की उपयोगिता क्या है?

**उत्तर : 1.** अतीत के किसी भी देश काल के अध्ययन का ऐसा विषय जो उसकी दशा एवं दिशा का बोध कराए। इसके लिए यह निम्न बातों का ख्याल रखता है— (1) देश एवं काल बोध (2) तथ्य आधारित निर्णयन (3) तथ्यों की कार्य-कारण परम्परा पर आधारित विश्लेषण (4) तथ्यों की जानकारी के प्रमाणिक स्रोतों का उल्लेख। (5) तथ्यों के चयन एवं उनके विश्लेषण में तटस्थ भाव रखना।

**उपयोगिता :** (1) अतीत को जानकर हम वर्तमान की कई समस्याओं की जड़ों को समझ पाते हैं, जिससे उनके समाधान का मार्ग निकलता है, जैसे— वर्ण व्यवस्था, लैंगिक भेद, छुआछूत आदि। (2) इतिहास कई विषयों का ज्ञानकोश है, जो विकास के मार्ग का प्रदर्शक है। (3) यह अच्छे और बुरे की समझ देने वाला मार्ग दर्शक है। कहते हैं कि इतिहास अपने आप को दुहराता है। इसका तात्पर्य है कि यदि हम इतिहास से शिक्षा नहीं लेंगे तो यह अपने को दुहराता है। इसके तहत हम राजनीतिक विघटन एवं विदेशी अधीनता, साम्प्रदायिक राजनीति और विभाजन, साम्राज्यवाद और युद्ध एवं विनाश के उदाहरण को देख सकते हैं। मोटे तौर पर देखें तो सभ्यता की गाड़ी दो चक्कों पर चलती है— (1) अतीत की शिक्षा (2) नवोन्मेष। इतिहास इसका एक चक्का है।

**प्रश्न : 2.** क्या इतिहास अपने आप को दुहराता है,

**उत्तर : 2.** इसके उत्तर के लिए पहले प्रश्न के उत्तर के लिए दूसरे हिस्से को देखें।

**प्रश्न : 3.** क्या वस्तुनिष्ठ इतिहास लेखन सम्भव है?

**उत्तर : 3.** इतिहास का आदर्श होता है कि जो जैसा है, उसको वैसा ही दिखा दो। इतिहासकार का दावा होता है कि वह किसी देश और काल की सच्ची तस्वीर पेश करता है। इस क्रम में उसके समक्ष निम्न कार्य होते हैं— (1) तथ्यों की खोज करना (2) तथ्यों का चयन करना (3) तथ्यों की व्याख्या कर जीवन दशा एवं दिशा का बोध कराना।

इस क्रम में व्यक्ति सभी स्तरों पर पूर्वाग्रह का शिकार होता रहता है। अंततः इतिहासकार के द्वारा दिया गया निष्कर्ष इतिहासकार का इतिहास होता है न कि वास्तविक इतिहास। इसके मद्देनजर यह विचार उभर कर आया कि वस्तुनिष्ठ इतिहास लेखन को सुनिश्चित करने के लिए इतिहासकारों को अपनी राय रखने से बचना चाहिए, लेकिन 20वीं सदी तक इतिहास लेखन के बारे में यह आम सहमति बन गई कि (1) वस्तुनिष्ठ इतिहास लिखने से इतिहास की उपयोगिता समाप्त हो जाएगी एवं इतिहास तथ्यों का ब्यौसा मात्र बनकर रह जाएगा। तथ्यों के विश्लेषण में नहीं, बल्कि उनके चयन में भी इतिहासकारों का पूर्वाग्रह शामिल हो जाता है। अतः वस्तुनिष्ठ इतिहास लेखन असम्भव हो जाता है। (3) इतिहासकारों से अपेक्षा होती है कि वो यथासम्भव पूर्वाग्रह मुक्त होकर तथ्यों का चयन एवं विश्लेषण करें। (4) यदि इतिहासकार घोषित आग्रह के साथ लिखता है तब भी उस पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि स्वतंत्र विचारण आधुनिक सभ्यता की मूलभूत विशेषता है।

**प्रश्न : 4.** क्या इतिहास लेखन में घोषित आग्रह, जैसे कि राष्ट्रवादी, मार्क्सवादी या सबल्टर्न विचारधारा पर इतिहास लेखन होना चाहिए?

**उत्तर : 4.** इस प्रश्न का उत्तर हमें आदर्श इतिहास लेखन, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता एवं बौद्धिक विविधता के आलोक में देना चाहिए।

- प्रश्न : 5.** प्राच्यवाद क्या है? प्राच्यवादी इतिहास लेखन की मूल प्रस्थापना क्या है?
- उत्तर : 5.** इतिहास लेखन के नोट्स में उपलब्ध है।
- प्रश्न : 6.** साम्राज्यवादी इतिहास लेखन की मूल प्रस्थापना क्या है? इसके पूर्वाग्रह की पहचान करें।
- उत्तर : 6.** इतिहास लेखन सम्बन्धित नोट्स में मौजूद हैं।
- प्रश्न : 7.** एशियाई उत्पादन प्रणाली की मूल मान्यता क्या है?
- प्रश्न : 8.** मार्क्सवादी इतिहास लेखन की मूल प्रस्थापना क्या है?
- प्रश्न : 9.** सबाल्टर्न इतिहास की मूल प्रस्थापना क्या है?
- प्रश्न : 10.** क्या इतिहास का पुनर्लेखन होना चाहिए?
- उत्तर : 10.** नवीन तथ्यों एवं वैचारिक विकास के आलोक में इतिहास लेखन में नित नवीन रूप उभरना चाहिए, लेकिन राजनैतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए नहीं। इतिहास में राजनीतिक दलों के एजेंडों को औचित्य देने की उपयोगिता होती है। अतः इसके दुरुपयोग की प्रवृत्ति भी उभर कर आयी है।
- प्रश्न : 11.** “इतिहास का अंत” का तात्पर्य क्या है? क्या आप इससे सहमत हैं?
- उत्तर : 11.** सोवियत संघ के विघटन के बाद फूकोयामा ने यह विचार व्यक्त किया कि अब विचारधाराओं की प्रतिस्पर्धा समाप्त हो गई है और पूंजीवादी-उदारवादी (लोकतंत्रवादी) विचारधारा अंततः विजयी रही। अब कोई नई या वैकल्पिक विचारधारा नहीं आएगी। विकास के अगले चरण में लोकतंत्र पहले से ज्यादा परिपक्व होगा।
- लेकिन यह भी स्मरणीय है कि सभ्यता का विकास एक अंतहीन कहानी है और इस क्रम में अभी अनेकानेक जटिलताओं का आना शेष है। इनके समाधान के लिए नए-नए विचार आते रहेंगे। ★
- प्रश्न : 12.** काल निर्धारण का आधार क्या होना चाहिए? भारत में मध्य काल एवं आधुनिक काल की शुरुआत कब हुई?
- उत्तर : 12.** जेम्स मिल ने मुस्लिम सत्ता की स्थापना के आधार पर मध्यकाल की शुरुआत एवं ब्रिटिश काल की स्थापना के साथ आधुनिक काल की शुरुआत का दावा किया। राष्ट्रवादियों ने भी मुस्लिम सत्ता की स्थापना के साथ ही मध्यकाल की शुरुआत की बात को स्वीकार कर लिया। मिल तो भारत का साम्प्रदायिक विभाजन चाहता था, लेकिन राष्ट्रवादी इतिहासकार प्रायः राजनीति केन्द्रित इतिहास लिख रहे थे, इसलिए उन्होंने मिल के विभाजन को ही स्वीकार कर लिया। लेकिन मार्क्सवादी इतिहासकारों ने इतिहास के विषय-वस्तु को राजदरबार से निकाल कर आम जीवन तक पहुंचा दिया। इस आधार पर सामन्तवाद के आधार पर मध्यकाल का निर्धारण होने लगा। पुनः तर्क बुद्धिवाद के आधार पर आधारित व्यवस्था, पूंजीवादी व्यवस्था, नवीन राजनीति, प्रशासन, संचार आदि के आधार पर आधुनिक काल की शुरुआत हुई। वस्तुतः सभ्यता का विकास एक सतत् प्रक्रिया के तहत होता है, इसलिए काल का पूर्णतः वस्तुनिष्ठ आधार असम्भव है, लेकिन अध्ययन की सुविधा के लिए यदि करना आवश्यक ही हो, तो जीवन के बृहद्तर परिप्रेक्ष्य में होने वाले परिवर्तन के आधार पर यह निर्णय करना चाहिए।

- प्रश्न : इतिहास की सिविल सेवा में क्या उपयोगिता है?
- प्रश्न : अशोक ज्यादा महान था या अकबर?
- प्रश्न : जैन धर्म विद्यमान रहा जबकि बौद्ध धर्म का हास हो गया।
- प्रश्न : इतिहास की कोई घटना जिसने आपको प्रभावित किया हो।
- प्रश्न : इतिहास के किस कालखण्ड को आप सबसे अच्छा मानते हैं और क्यों?
- प्रश्न : कोई पांच प्रमुख इतिहासकारों का नाम बताइए।
- प्रश्न : स्वर्णकाल से क्या आशय है?
- प्रश्न : कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' राजनीति विज्ञान की पुस्तक है, फिर भी इसे 'अर्थशास्त्र' क्यों कहा जाता है?
- प्रश्न : इतिहास में 'अंधयुग' की अवधारणा बताइए।
- प्रश्न : राणा प्रताप ज्यादा महान थे या अकबर?
- प्रश्न : इतिहास का सबसे पसंदीदा व्यक्तित्व
- प्रश्न : क्या अशोक के अभिलेखों के द्वारा जनता को दी जाने वाली जानकारी को आर.टी.आई. का उदाहरण कहा जा सकता है?
- प्रश्न : राष्ट्रवाद क्या होता है?
- प्रश्न : सभ्यता और संस्कृति में क्या अन्तर है?
- प्रश्न : "गांधी मर सकता है, गांधीवाद नहीं" — यह कथन गांधी जी ने कहा था?
- प्रश्न : साम्प्रदायिकता क्या होती?
- प्रश्न : वामपंथी से क्या आशय है?
- प्रश्न : टेम्पेरा-फ्रेस्को शैली क्या है?
- प्रश्न : पुराण की शिक्षा प्रसार में क्या भूमिका थी?
- प्रश्न : भारत में सामंतवाद का ढांचा कितना सामंती था?
- प्रश्न : राजपूतों का उद्भव
- प्रश्न : ऋत की संकल्पना
- प्रश्न : प्राचीन कालीन नीति का आधार
- प्रश्न : प्राचीन काल में दास प्रथा कमजोर क्यों थी?
- प्रश्न : प्राचीन काल एवं मध्यकाल में धर्म निरपेक्षता का तात्पर्य?
- प्रश्न : धन का निष्कासन क्या है?
- प्रश्न : ब्रिटिश शासन ने आधुनिक भारतीय उद्योग के विकास के माग को किस प्रकार बाधित किया?
- प्रश्न : क्या क्रान्तिकारियों को आतंकवादी कहना उचित है?
- प्रश्न : गांधी ने नेहरू को क्यों आगे बढ़ाया?
- प्रश्न : मेरठ थिसिस क्या है?
- प्रश्न : नेहरू जी के स्थान पर यदि सरदार पटेल भारत का प्रधान मंत्री होते?
- प्रश्न : गांधी ने भगत सिंह की जान क्यों नहीं बचाया?
- प्रश्न : सत्याग्रह एवं निष्क्रिय प्रतिरोध का अंतर स्पष्ट करें।
- प्रश्न : धर्मसुधार आन्दोलन की मुख्य विशेषताएं क्या हैं?
- प्रश्न : दो राष्ट्र का सिद्धान्त क्या था?
- प्रश्न : रेशम का मार्ग
- प्रश्न : सुलह-ए-कुल

## इतिहास लेखन में उपकरणों की भूमिका

पुरापाषाण काल से लेकर नवपाषाण काल तक का अध्ययन मुख्यतया लोगों के द्वारा उपयोग किये गये उपकरणों के आधार पर ही किया जाता है। जब लोग पत्थर से बने उपकरणों के बाद धातु का इस्तेमाल करने लगे तो इसे सभ्यता के विकास का एक महत्वपूर्ण पड़ाव माना जा सकता है। 3000 ई.पू. तक आते-आते ताम्र और टिन को मिलाकर कांस्य का निर्माण होने लगा और यही हड़प्पा सभ्यता की महत्वपूर्ण पहचान बनकर उभरी, क्योंकि यह एक प्रौद्योगिकीय क्रांति का संकेत था। हड़प्पा सभ्यता के पतन के बाद कांस्य का उपयोग विलुप्त हो गया और सभ्यता एकबार फिर से ताम्रपाषाण की ओर मुड़ गई। तात्पर्य यह है कि धातुओं को उसकी उपलब्धता और प्रौद्योगिकी के माध्यम से उसके रूपांतरण के आधार पर हम युग की भौतिक संस्कृति की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। 8वीं शताब्दी ई.पू. तक आते-आते भारत में लोहे का आगमन हो चुका था। छठी शताब्दी ई.पू. के दौरान निम्न गंगा घाटी में भौतिक संस्कृति का जो नाभिकीय केन्द्र विकसित हुआ, उसे लौह उपकरणों के उपयोग के आधार पर समझा जा सकता है। लोहा ने कृषि और शिल्प के विकास को जो आधार प्रदान किया, उसे अर्थव्यवस्था और राजनीति दोनों में गत्यात्मकता आई और इस आधार पर द्वितीय नगरीकरण एवं बौद्धिक आंदोलन की धारा विकसित हुई। इसी तरह से दक्षिण में महापाषाण की संस्कृति लौह संस्कृति के साथ अविरल रूप से जुड़ी हुई है, जिस आधार पर वहाँ की भौतिक संस्कृति के विकास और उसके सापेक्ष राजनीति एवं संस्कृति का भी अध्ययन किया जा सकता है।

**मृदभांड :-** मृदभांड से तात्पर्य है मिट्टी से बना हुआ बर्तन, जिसमें प्लेट, कटोरा, घड़ा, ग्लास आदि सब कुछ शामिल होता है। यह वो सामग्री है, जो इतिहास के प्रायः सभी कालखंडों में आम और विशिष्ट सभी लोगों के द्वारा उपयोग में लाया गया, इसीलिए मृदभांडों को इतिहास के अध्ययन के लिए एक प्रतिनिधि सामग्री के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। मृदभांडों की बनावट के बेडौल या सुगढ़ता के आधार पर यह पता लगाया जा सकता है कि यह हस्त निर्मित है या कि चाक निर्मित। चाक निर्मित मृदभांड अपने आप में वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकी उन्नति का एक प्रमाण माना जा सकता है, जो भौतिक संस्कृति के विकास को परिलक्षित करता है। पुनः यह भी स्मरणीय है कि एक ही युग में मृदभांडों की दोनों ही कोटियों की उपलब्धता या फिर चाक निर्मित मृदभांडों में भी पॉलिश की चिकनाई के विविध स्तरों से समाज के स्तरीकरण का भी अनुमान लगाया जा सकता है। मृदभांडों के ऊपर किए गए पॉलिश से युग विशेष में उपलब्ध रंग या फिर रसायन की जानकारी भी प्राप्त हो जाती है। इसी आधार पर हम हड़प्पा के मृदभांड या फिर हड़प्पेत्तर काल में OCP, PGW और फिर छठी शताब्दी ई.पू. में NBPW को केन्द्र में रखकर उस युग की जीवन पद्धति की रूपरेखा खींच सकते हैं। इतिहास के काल नियोजन को साहित्यिक आधार पर जिस तरह से वंशावलियों या युगीन प्रवृत्तियों के आधार पर तय किया जाता है, उसी तरह से पुरातत्व में यदि उपकरणों के आधार को लें तो पाषाणयुग या ताम्रपाषाणयुग अथवा कांस्य या फिर लौहयुग के रूप में कालखंडों का निर्धारण किया जा रहा है। इसी तर्ज पर पुरातत्ववेत्ताओं ने मृदभांडों को भी काल निर्धारण का आधार बनाया है। यदि हम NBPW संस्कृति की बात करते हैं तो यह एक विशिष्ट प्रकार के मृदभांड का इस्तेमाल करने वाले लोगों की संस्कृति का संकेत करता है, जो लौह उपकरणों का इस्तेमाल करने के कारण अधिशेष कृषि करते थे, जिनका शिल्पीय स्तर उन्नत था, जो लोग मुद्रा का उपयोग करते थे एवं नगरीय सभ्यता का विकास कर चुके थे।

## इतिहास लेखन में कलाकृतियों की भूमिका

कोई भी कलाकृति बेजुबानी ही कई बातें कह जाती है, जैसे कि वह किस सामग्री से बनी है, उसका विषय क्या है, निर्माण की प्रेरणा का स्रोत क्या है, कलात्मक उन्नति कैसी थी या फिर युग का विश्वास और फिर भौतिक संस्कृति किस स्तर की थी? उदाहरणस्वरूप यदि हम हड़प्पा की कलाकृतियों को देखें तो हमें पता चलता है कि वो लोग मिट्टी, सेलखड़ी के पत्थर, ताम्र, कांस्य आदि का कलात्मक स्तर पर उन्नत प्रयोग कर रहे थे। मिट्टी

की मूर्तियाँ सामान्य तौर पर आम जनों के प्रयोग में आती होंगी और धनी लोग प्रस्तर या धात्विक मूर्तियों का ही उपयोग करते होंगे, जो सामाजिक स्तरीकरण का संकेत करता है। मूर्तियों के विषय को लेकर देखें तो इसमें स्त्री एवं पुरुष दोनों ही की देवमूर्तियों का प्रमाण तो मिलता ही है, विविध पशुओं की मूर्तियाँ भी बनाई जाती थी, जिनमें से कुछ पशुओं का दैवीय महत्व भी रहा होगा, जैसे कि कूबड़ वाला बैल या फिर एकशृंगी पशु। सिंध के क्षेत्र में स्त्री मूर्तियों का प्रमाण ज्यादा मिला है, जबकि पंजाब क्षेत्र में पुरुष मूर्तियों का। इसे समाज की मातृसत्तात्मकता या फिर पितृसत्तात्मकता का संकेत भी माना जा सकता है, जबकि इसी दौर में राजस्थान के क्षेत्र में यज्ञ की वेदिकाएँ मिली हैं, जो संकेत करती हैं कि उनके बीच मूर्तिपूजा से कहीं ज्यादा याज्ञिक कर्मकांडों का प्रचलन रहा होगा। मोहनजोदड़ो की प्रस्तर से बनी मूर्ति, जिसकी पहचान कुछ लोगों ने पुरोहित के रूप में की है, वह कई ऐतिहासिक तथ्यों का संकेत करती है, जैसे – प्रस्तर काल की उन्नति, तिपतिया वस्त्र निर्माण की कला, कुलीन लोगों के बीच प्रचलित केश सज्जा, राजनीतिक और सांस्कृतिक विश्वास और फिर मंगोलाईड मूल आदि। इसी तरह से यदि हम मोहनजोदड़ो की कांस्य नर्तकी की मूर्ति पर विचार करें तो कांस्य से युक्त मोम पद्धति पर बनी यह मूर्ति उस युग की प्रौद्योगिकी की उन्नति का बेहतरीन उदाहरण प्रस्तुत करती है। इसके बदन पर जिन आभूषणों का अंकन है, वह कुलीन महिलाओं के शृंगार प्रसाधन का संकेत तो करती ही हैं, शिल्पीय ज्ञान का भी एक आधार प्रस्तुत करती हैं। यदि इस मूर्ति को एक नर्तकी के रूप में स्वीकार किया जाए तो संभव है कि उस युग में भी कोई देवदासी अथवा नगरवधू की व्यवस्था रही होगी। पुनः मूर्ति की देहव्यष्टि और उसके कपालों के अध्ययन से यह संकेतित होता है कि यह मूर्ति भूमध्यसागरीय मूल के व्यक्ति की रही होगी। इन्हीं आधारों पर हड़प्पाई लोगों के विविध मूल के होने का प्रमाण मिलता है। हड़प्पाईयों की कलाकृतियों में मूर्तियों के साथ ही उनके द्वारा निर्मित मुहरों का व्यापक महत्व है, जो सेलखड़ी पत्थर से बनाए जाते थे और फिर इनपर अंकित विषयों से हड़प्पाईयों की व्यापार में प्रयुक्त ट्रेडमार्क व्यवस्था, धार्मिक विश्वास, यौगिक क्रियाविधि, पशुओं के बारे में जानकारी आदि की जानकारी मिलती है। कलाकृतियों के आधार पर ही हमें मौर्योत्तर और गुप्तकालीन सांस्कृतिक उन्नति का सबसे बेहतर प्रमाण मिलता है, जिसमें गंधार कला, मथुरा कला और सारनाथ कला का अध्ययन विशेष रूप से महत्वपूर्ण है।

**भवन की भूमिका :**— भवन का अध्ययन धार्मिक और धर्मोत्तर दो श्रेणियों में किया जा सकता है। गुप्तकाल के पहले तक भारत में मंदिरों के निर्माण का कोई प्रमाण नहीं मिला है, यद्यपि कि स्तूपों और चैत्यों के रूप में बौद्ध कलात्मक भवनों का प्रमाण हमें मौर्यों के पहले से ही मिलने लगते हैं। इसके पूर्व काल के भवन लौकिक महत्व के थे, जिसमें स्मरणीय है कि हड़प्पा काल और उसके बाद भगवानपुरा आदि के उदाहरणों के अतिरिक्त वैदिक काल अथवा छठी शताब्दी ई.पू. के काल के लौकिक भवनों का पुरातात्विक प्रमाण हमें नहीं मिलता है। मेगास्थनीज और फाहयान जैसे यात्रियों ने पाटलिपुत्र के जिस अतिसुंदर भवन का उल्लेख किया है, अब उसका भी ध्वंस ही उपलब्ध है। भवन निर्माण लोक जीवन की घुमंतू प्रवृत्ति में स्थिरता का प्रमाण माना जा सकता है और इस दिशा में आरंभिक संकेत हमें मेहरगढ़ से मिलता है। हड़प्पा काल तक आते-आते भवन निर्माण की उन्नत योजना विकसित हो चुकी थी, जो उनके नगरीकरण के अन्य प्रतिमानों के समान उन्नत तो थी ही, सिर्फ उनके भवनों का ही अध्ययन करें तो भी उस सभ्यता के नागरिक सभ्यता होने का संकेत मिलता है। पाणिनी ने अपने अष्टाध्यायी में लिखा है कि नगर की एक विशेषता यह होती है कि वहाँ बड़े-बड़े भवन होना चाहिए। हड़प्पाकालीन लोग दुर्गों के अंदर और बाहर बहुमंजिली इमारतें बनाते थे, जिसमें अलंकरण के स्थान पर दृढ़ता, स्वच्छता और स्थान की पर्याप्तता पर विशेष बल दिया जाता था, जिससे हड़प्पाई लोगों की उपयोगितावादी सोच का संकेत मिलता है। उन्होंने अपने मकान में पकी हुई ईंटों का प्रयोग किया है, जो एक विशिष्ट अनुपात के बने होते थे और फिर भवन के किनारे में L आकार के ईंट या फिर कुँओं में फन्नीदार ईंटों का प्रयोग किया गया है, जिससे यह प्रमाणित होता है कि हड़प्पा काल में ईंट निर्माण की एक उन्नत अवस्था रही होगी और संभव है कि मृदभांड, ईंट आदि के आधार पर कुंभकारों का एक सामाजिक वर्ग भी उभरकर आया होगा। हड़प्पाईयों

ने अपने भवन में लकड़ियों का भी व्यापक इस्तेमाल किया है। मौर्यकालीन स्तूप प्रायः ईंट निर्मित थे और उसमें प्रस्तर के इस्तेमाल के आधार पर ही भरहूत और साँची के स्तूपों में मौर्योत्तरकालीन योगदान का भी अध्ययन किया जाता है। स्मरणीय है कि बौद्ध स्रोतों में पुष्यमित्र शुंग को बौद्धों का दमनकर्ता बताया गया है, जो अशोक द्वारा निर्मित 84 हजार स्तूपों को तोड़कर ख्याति अर्जित करना चाहता था, क्योंकि वह ब्राह्मण धर्मोद्धारक था, किंतु यदि हम भरहूत और साँची के स्तूपों के उत्कीर्णित लेखों का अध्ययन करें तो उससे साफ प्रमाणित होता है कि ये स्तूप शुंगकाल में बने हैं, जो मौर्यों के स्तूपों की तुलना में कलात्मक संवर्द्धन का प्रमाण देते हैं। तात्पर्य यह है कि स्तूपों की उपलब्धता बौद्ध स्रोतों के ब्यौरे को पूर्वाग्रहपूर्ण सिद्ध कर देता है। पुरातात्विक स्रोतों के बदौलत इतिहास की जिस एक धारा के लेखन को सर्वाधिक बल मिला है, वह कला और धर्म का क्षेत्र ही है और कला के क्षेत्र में स्तूपों एवं चैत्यों के बाद गुप्तकालीन मंदिरों का स्थान आता है। स्मरणीय है कि मंदिर निर्माण की कला की उन्नतावस्था गुप्तकाल के बाद उभरकर आती है, जिसमें हिमालय से लेकर विंध्य क्षेत्र के बीच प्रचलित नागर शैली, विंध्य से कृष्णा नदी तक प्रचलित बेसर शैली और कृष्णा के नीचे प्रचलित द्रविड शैली विशेष रूप से प्रचलित थी। मंदिरों के निर्माण की यह धारा प्रयुक्त सामग्रियों, अभियांत्रिकी, धार्मिक विश्वास, तत्सुगीन भौतिक संस्कृति की उन्नति और कलात्मक रुचियों के विकास का प्रमाण उपलब्ध कराती है।

**मुद्रा की भूमिका :-** मुद्रा विनिमय का एक साधन है, जो विनिमय व्यवस्था की उन्नत अवस्था के बदौलत उभरकर आती है और इसकी उन्नति का संवर्द्धन करती है। मुद्रा के अभाव में व्यापारिक विनिमय वस्तु विनिमय पर आधारित होती है, जो व्यापार कार्य की उन्नति के लिए बाधक है। ऐसी स्थिति में मुद्रा का आगमन व्यापार की उन्नति का प्रमाण माना जा सकता है और जिस क्रम में मौद्रिक व्यवस्था उन्नत होती जाती है, उसी क्रम में व्यापारिक व्यवस्था की उन्नति को भी प्रामाणिक माना जा सकता है। छठी शताब्दी ई.पू. में पहली बार भारतीय इतिहास में मुद्रा का आगमन संकेतित होता है, जो 'द्वितीय नगरीकरण' का भी काल था। पुनः कुछ सिक्कों पर मयूर के अंकन से उनके मौर्यकालीन होने का प्रमाण भी माना जाता है। मुद्रा का इस्तेमाल धात्विक ज्ञान और आर्थिक विनिमय के साथ ही युगीन धर्म, संस्कृति और राजनीतिक व्यवस्था के लिए भी व्यापक रूप से महत्वपूर्ण होता है। भारतीय इतिहास में मौर्योत्तर काल का अध्ययन प्रमुखतया मुद्रा पर ही आधारित है। मुद्रा के स्रोतों का अध्ययन यदि नहीं होता तो दो साम्राज्यों के बीच का यह काल अंधकार युग की श्रेणी में ही पड़ा रह जाता। मौर्योत्तर काल में पहली बार बड़े पैमाने पर स्वर्ण सिक्कों का प्रचलन किया गया, जो विदेश व्यापार में उन्नति का संकेतक है और फिर सोने के अतिरिक्त चाँदी, ताँबा, सीसा, पोटीन आदि के बने सिक्के यह प्रमाणित करते हैं कि उस युग में व्यापार वैदेशिक स्तर पर ही नहीं, देशीय और क्षेत्रीय स्तर पर भी उन्नत अवस्था में था। सातवाहन शासक यज्ञश्रीसातकर्णी के सिक्के पर अंकित नौका जहाँ यह प्रमाणित करता है कि शासक व्यापारिक गतिविधियों में अभिरूचि लेता था, वहीं कनिष्क के सिक्के पर अंकित विविध देवताओं के नाम या उनका प्रतीक उसके भारतीय और मध्य एशियाई संस्कृतियों के बीच के समन्वय के प्रयास का प्रमाण देते हैं। गुप्त शासक समुद्रगुप्त के सिक्के पर अंकित लिच्छवि दौहित्र यह प्रमाणित करता है कि उसके पिता चंद्रगुप्त प्रथम का लिच्छवियों के साथ वैवाहिक स्तर का राजनयिक संबंध रहा होगा। पुनः उसके सिक्कों पर वीणावादन या धनुर्धर आदि के अंकन से उसकी सांस्कृतिक और युद्धक उपकरणों की भी जानकारी मिलती है। हर्षवर्द्धन, ह्वेनसांग का संरक्षक था और भारतीय इतिहास में सबसे प्रसिद्ध शासकों में उसका नाम लिया जा सकता है, लेकिन यदि वाणभट्ट यह नहीं बताता कि वह पहले शैव था, तो भी हर्ष का मिला एकमात्र स्वर्ण सिक्का आरंभिक जीवन में हर्ष के शैव होने का प्रमाण देता है, क्योंकि इसपर 'उमामाहेश्वर' का नाम अंकित है। पुनः स्मरणीय है कि गुप्तकाल की कला, साहित्य और दर्शन जैसे विकास को आधार बनाकर उनकी भौतिक संस्कृति की उन्नति को स्वयंसिद्ध माना जाता रहा था, लेकिन उस काल के मुद्रा का अध्ययन करने से एक भिन्न तस्वीर उभरकर आती है, क्योंकि इस दौरान एक तरफ जहाँ प्राचीन भारतीय इतिहास में सर्वाधिक मात्रा में स्वर्ण सिक्के प्राप्त हुए हैं, वहीं सामान्य धातुओं से बने सिक्कों की दुर्लभता से यह संकेत मिलता है कि गुप्तकाल में देशीय व्यापार ह्रासोन्मुख रहा होगा, जो भौतिक संस्कृति के पतनोन्नमुख होने का प्रमाण देती है। गुप्तोत्तर काल में हम जाकर

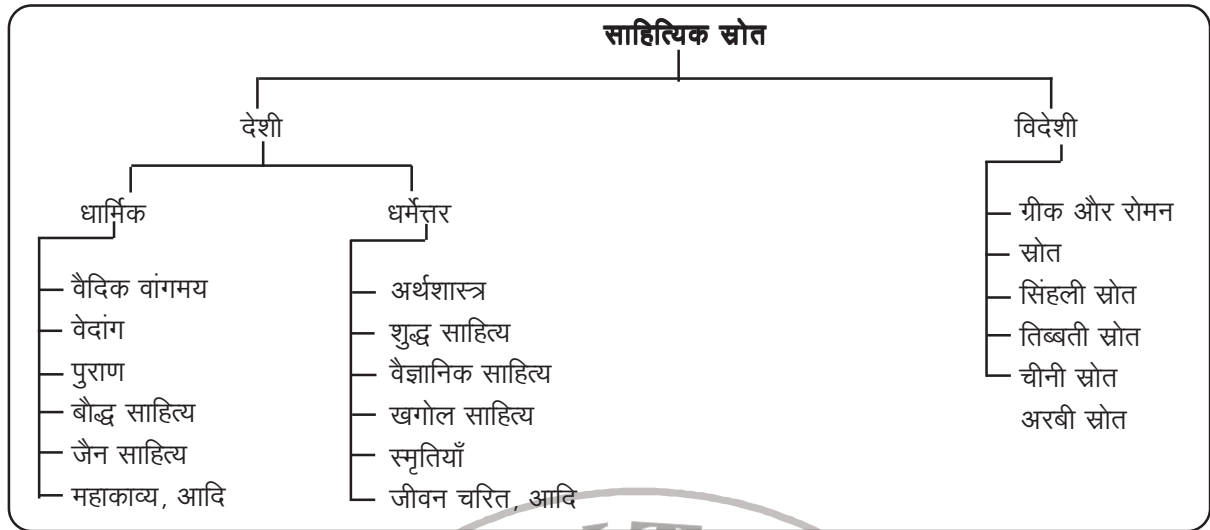
देखें तो हमें सिक्कों की दुर्लभता, व्यापार के पतन और बंद अर्थव्यवस्था का संकेत देती है, जो सामंतीय अर्थव्यवस्था के विकास का प्रमुख आधार रही होगी।

**अभिलेख :-** अभिलेख मिट्टी, प्रस्तर, धातु या किसी भवन आदि पर उत्कीर्णित ऐसा लेख है, जो स्थायी महत्व का होता है और समयानुसार इसमें प्रक्षेपण नहीं किया जा सकता, इसीलिए इसे पुरातत्व की श्रेणी में रखा जाता है, यद्यपि कि इसमें भाषा और लिपि के माध्यम से विषय का ब्यौरा दिया जाता है। स्मरणीय है कि मिट्टी की क्षणभंगुरता और धातु की दुर्लभता के मद्देनजर सुलभ और टिकाऊ प्रस्तर को ही अभिलेख का प्रमुख अवलंब बनाया गया, यद्यपि कि कुछ ताम्रपत्र जैसे हर्ष का मधुबन, बाँसखेड़ा का ताम्रपत्र या फिर अमोघवर्ष का संजना ताम्रपत्र एवं चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का मेहरौली लौह स्तंभलेख का भी ऐतिहासिक महत्व है। किसी भी अभिलेख से हमें निम्न जानकारियाँ मिल सकती हैं—प्रस्तर या धातु का ज्ञान, जिस पर यह लेख उत्कीर्णित है, जैसे कि— अशोक का एकाश्मक पत्थर से निर्मित स्तंभलेख जहाँ उसके काल की प्रस्तर कला का प्रमाण है, वहीं चंद्रगुप्त का मेहरौली स्तंभ उस युग की लौह कला का। सामग्री के अतिरिक्त उसपर किये गए पॉलिश से रसायन की जानकारी मिलती है, जिसके तहत स्मरणीय है कि यदि अशोक के स्तंभों में यदि 2200 वर्ष के बाद भी चमक बाकी है तो यह उनकी रासायनिक ज्ञान की उन्नति का प्रमाण है। उसी प्रकार मेहरौली लौह स्तंभ में आज तक जंग न लगना उस काल की उन्नत प्रौद्योगिकी को प्रमाणित करता है। अभिलेख युगीन भाषा और लिपि का भी प्रमाण देते हैं, विशेषतौर पर यदि हम ग्रीक स्रोतों पर इस हवाले को आधार बनाए कि भारतीय लोगों को लेखन कला की जानकारी नहीं है तो अशोक का अभिलेख उसका पुरजोर खंडन करता है। पुनः उसके अभिलेखों में जो भाषा और लिपि का माध्यम अपनाया गया है, उसकी व्यापक क्षेत्रीय व्याप्ति से यह संकेत मिलता है कि शासक अपने राज्य को भाषायी स्तर पर सांस्कृतिक एकीकरण का आधार देना चाहता होगा और इस क्रम में यह भी स्मरणीय है कि पश्चिमोत्तर के क्षेत्रों में अशोक के अभिलेखों की भाषा और लिपि यदि स्थानीय प्रभाव ग्रहण कर ली थी, तो इससे संकेतित होता है कि उस क्षेत्र में शासक के केन्द्रीयकरण की व्यवस्था दुर्बल रही होगी। इसके बाद स्तंभों पर अंकित पशुओं की मूर्तियाँ उसकी कलात्मक उन्नति का संकेत करती हैं। यदि हम अभिलेख के विषय पर विचार करें तो अशोक के अभिलेख जहाँ जनता और प्रशासकों को संबोधित करते हुए राजा की नीतियों का ब्यौरा देते हैं, वहीं चन्द्रगुप्त द्वितीय का मथुरा अभिलेख उसके धार्मिक विश्वासों और विशेषतौर पर पाशुपतों के इतिहास की जानकारी के लिए महत्वपूर्ण है। यहाँ स्मरणीय है कि मथुरा के पाशुपत के समानांतर यदि मेहरौली के भागवत को रखा जाए तो गुप्त शासकों की धर्म सहिष्णुता का प्रमाण मिल जाता है। अभिलेखों की एक श्रेणी प्रशस्ति की भी है, जिसके तहत खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख और समुद्रगुप्त के प्रयाग प्रशस्ति या फिर पुलकेशिन द्वितीय के एहोल प्रशस्ति लेख को रखा जा सकता है। यहाँ स्मरणीय है कि खारवेल और समुद्रगुप्त की साम्राज्यवादी विस्तार से संबद्ध उपलब्धियों का ब्यौरा यदि इन लेखों में नहीं मिलता तो इसकी जानकारी का और कोई दूसरा स्रोत उपलब्ध ही नहीं है।

कुल मिलाकर देखें तो पुरातात्विक स्रोतों के कुछ महत्वपूर्ण योगदान इस प्रकार हैं :- (1) काल निर्धारण, (2) राज्य का सीमा निर्धारण, जैसे - मौर्य साम्राज्य, (3) साम्राज्य विस्तार की जानकारी, जैसे - समुद्रगुप्त, (4) इतिहास के कालखंड की प्राचीनता, क्योंकि यदि साहित्यिक आधार पर इतिहास लेखन किया जाए तो हमारा इतिहास वैदिक काल से ही आरंभ होता था, लेकिन पुरातत्व ने इसे पाषाणकाल से संबद्ध कर दिया। (5) साहित्यिक स्रोतों की प्रामाणिकता की जाँच, (6) कला और संस्कृति के इतिहास लेखन पर विशेष बल, (7) भौतिक संस्कृति के विकास के अध्ययन को संभव बनाना, (8) आम लोगों के जीवन के बारे में जानकारी का आधार उपलब्ध कराना आदि।

लेकिन यहाँ स्मरणीय है कि पुरातत्व और इतिहास के बीच की दूरियों को मिटाने के लिए निरंतर प्रयास करने की जरूरत है और फिर आवश्यकता है कि इतिहास की आवश्यकता और पुरातत्व के संधान के बीच एक सहचर्य की स्थापना हो। इस तरह के सहचर्य का विकास भू-गर्भशास्त्र, समुद्र विज्ञान, वनस्पति शास्त्र,

मुद्राशास्त्र, नृ-शास्त्र आदि सभी विषयों के साथ भी अपेक्षित है और तभी हम इतिहास के बहुआयामी फलक से परिचित हो सकते हैं और न सिर्फ हम अपोलो का इतिहास लिख सकते हैं, बल्कि बौनों के विकास का ब्यौरा भी दे सकते हैं।



**नोट :** इसकी उपयोगिता की सामान्य समझ आपसे अपेक्षित है। सीमा आधारित प्रश्न कई बार पूछे गए हैं

### साहित्यिक स्रोतों की सीमा :

इतिहास से इतर स्रोतों के कारण इतिहास लेखन की प्रक्रिया अत्यंत ही दुरूह है। विविध स्रोतों में परस्पर व्याघाती तथ्यों के कारण प्रामाणिकता संदिग्ध हो जाती है। (1) तिथि बोध की कमी (2) क्षेत्र बोध का अभाव (3) वंशानुक्रम की कमी (4) तथ्यगत ब्यौरे का अभाव। (5) पूर्वाग्रहपूर्ण जानकारी। (6) अभिजात्य वर्ग तक ही इतिहास का सीमित रहना। (7) सीमित दायरा आदि कुछ ऐसे तथ्य हैं, जो निष्पक्ष इतिहास लेखन में अवरोध का कार्य करते हैं।

- 1. तिथि बोध की कमी**— उपलब्ध साहित्यिक स्रोतों में तिथियों का उल्लेख नहीं मिलता है और जहाँ तिथियों का उल्लेख किया गया है जैसे पुराणों में, वहाँ यह अत्यन्त अव्यवहारिक है।
- 2. क्षेत्र बोध का अभाव**— अर्थशास्त्र, इण्डिका, हर्षचरित जैसे उत्कृष्ट ग्रंथों में भी क्षेत्र विशेष पर विस्तार से चर्चा नहीं की गई है।
- 3. वंशानुक्रम की कमी**— धार्मिक साहित्य में देवी-देवताओं का वर्णन मिलता है जबकि धर्मन्तर साहित्य में किसी एक चरित का सर्वांगीण वर्णन, किन्तु किसी एक राजवंश का अद्योपान्त वर्णन बहुत कम मिलता है। पुराणों और बौद्ध साहित्य में वंशावलियाँ हैं लेकिन दोनों में प्रायः विरोधाभास है, अतः किसी तीसरे साक्ष्य का आश्रय लेना पड़ता है।
- 4. तथ्यगत ब्यौरे का अभाव**— किसी एक विषय या पहलू का पूरा ब्यौरा नहीं मिलता जिससे उसकी पूरी जानकारी मिल सके।
- 5. पूर्वाग्रह पूर्व जानकारी**— धार्मिक और धर्मन्तर दोनों तरह के स्रोत पूर्वाग्रह पूर्ण जानकारी प्रस्तुत करते हैं। जैसे पुराणों में मौर्योत्तर काल को कलियुग कहा गया क्योंकि विदेशी आक्रमणों के कारण धार्मिक अधःपतन की स्थिति बनी जिससे ब्राह्मणीय व्यवस्था संकट में पड़ गयी।
- 6. अभिजात्य वर्ग का वर्णन**— ब्राह्मण स्रोतों से मुख्य रूप से उच्च वर्ग की जानकारी और बौद्ध स्रोतों से यद्यपि निम्न वर्ग की जानकारी किन्तु अपर्याप्त है।



7. **सीमित दायरा**—राजनीति और धर्म की व्यापक रूप से जानकारी मिलती है, किन्तु आर्थिक संव्यवहारों तथा सामाजिक तनावों की तथ्यपरक जानकारी का अभाव है। तर्क संगत सीमा निर्धारण नहीं मिलता। साहित्यिक स्रोतों का दायरा अत्यन्त सीमित है।

उपरोक्त विश्लेषणों में से यह आशय निकाला जा सकता है कि केवल साहित्यिक स्रोतों की सहायता से ही वास्तविक या निष्पक्ष इतिहास नहीं लिखा जा सकता।

### **वैदेशिक स्रोत : महत्वपूर्ण बिन्दु—**

(1) तिथि निर्धारण (2) देशी पूर्वाग्रह नहीं (3) यात्रियों के द्वारा दिए ब्यौरे से सामाजिक सांस्कृतिक जीवन के बारे में रोचक ज्ञान (4) भारत के वैदेशिक व्यापार की अवशेष जानकारी।

## **इतिहास लेखन के विविध दृष्टिकोण**

1. **प्राच्यवादी दृष्टिकोण**— 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध से 19वीं सदी के आरंभिक दशक के बीच कुछ यूरोपीय विद्वानों ने प्राचीन भारतीय ग्रंथों का अध्ययन कर भारतीय इतिहास लेखन में प्राच्यवादी दृष्टिकोण का सूत्रपात किया। इन विद्वानों में विलियम जोंस, कोलब्रुक, मैक्समूलर, जेम्स प्रिंसेप आदि अग्रणी माने जाते हैं। इन्होंने प्राचीन भारतीय इतिहास को आर्यों की कामयाबी एवं उपलब्धियों का इतिहास माना है। आर्यों की प्राचीन भारत में राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्तर पर श्रेष्ठ उपलब्धियाँ रहीं। मैक्समूलर के अनुसार भारतीय आर्य सक्रिय नहीं, निष्क्रिय थे। जुझारू नहीं मननशील थे और उपरिग्रही थे। अर्थात् निष्क्रियता मननशीलता और अपरिग्रही मनोवृत्ति भारतीय आर्यों की मुख्य विशेषताएँ थीं, जिसे अपनाकर पश्चिमी समाज अनैतिकता की ओर बढ़ा जिसका परिणाम नैतिकता के पतन के रूप में सामने आया। प्राच्यवादियों ने पश्चिम के पूंजीवादी दृष्टिकोण को नकार कर भारतीय इतिहास लेखन में प्राचीन भारत के आदर्श को सामने रखने का प्रयास किया। प्राच्यवादी इतिहासकार ने प्राचीन भारतीय इतिहास में अध्यात्मिक उपलब्धियों के साथ ही लौकिक जगत की उपलब्धियों को स्वीकार किया लेकिन इनकी मुख्य प्रवृत्ति आध्यात्म और नैतिकता की ओर ही थी। प्राच्यवाद भारतीय इतिहास लेखन की एक स्वतंत्र विचारधारा थी, जिसका विकास वारेन हेस्टिंग्स के काल में हुआ। विलियम जोंस और विलिक्लिन्स जैसे ब्रिटिश प्रशासकों ने इस दृष्टिकोण को प्रश्रय दिया।

2. **उपयोगितावादी दृष्टिकोण**— 18वीं शताब्दी में जेम्स मिल के नेतृत्व में प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन में एक नये दृष्टिकोण का प्रादुर्भाव हुआ। उपयोगितावादियों ने प्राच्यवादियों की आलोचना इस आधार पर की कि प्राच्यवादी प्राचीन भारतीय इतिहास के प्रति मोहभाव से ग्रसित हैं। उपयोगितावादियों ने प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन में तर्क और बुद्धि की महत्ता को स्थापित करने का प्रयास किया।

उपयोगितावादियों की मान्यता के अनुसार अधिकतम खुशी के लिए तदनुकूल व्यवस्था की स्थापना करनी होगी जिसकी जाँच बुद्धि के आधार पर की जाएगी। यदि प्राचीन व्यवस्था इस जाँच में अधिकतम खुशी के लिए अनुकूल सिद्ध होगी तो उसे स्वीकार किया जाएगा, अन्यथा प्राचीन व्यवस्था को खंडित कर कोई नई व्यवस्था लायी जाएगी।

उपरोक्त दृष्टिकोण को आधार बनाकर इतिहास लेखन किया गया जिसमें यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया कि भारत की प्राचीन व्यवस्था अधिकतम लोगों की खुशी को सम्पादित नहीं करती थी अतः ब्रिटिश व्यवस्था इसके अनुकूल है। इस दृष्टिकोण को ठोस आधार देने के लिए जेम्स मिल ने 1817 में (History of India) नामक एक पुस्तक लिखी जिसके सामान्य निष्कर्ष इस प्रकार हैं—

(i) भारतीय समाज अपरिवर्तनशील और जड़ रहा।

- (ii) भारतीय लोगों में स्वेच्छाचारी शासन द्वारा शासित होने की परम्परा रही क्योंकि भारतीय लोग सदैव आध्यात्मिक या पारलौकिक समस्याओं में ही डूबे रहे और उनके इहलौकिक जीवन का हितसाधन सदैव दूसरों ने किया।
- (iii) प्राचीन भारत की शिक्षा आस्था आधारित रही, धर्म कर्मकाण्डीय रहा, संस्कृति रूढ़ और प्रगतिशील रही, समाज जाति प्रथा के कुचक्र से ग्रस्त रहा, विज्ञान आदि की उपलब्धियाँ नगण्य रहीं।
- (iv) भारत योगियों, जादूगरों और सपेरों का देश रहा है।

जेम्स मिल ने उपरोक्त आधारों पर भारत में आधुनिक शिक्षा तर्क प्रधान जीवन पद्धति, विधि का संहिताकरण, विधि के माध्यम से समाज सुधार, आधुनिक विज्ञान का विकास आदि की वकालत की, जो ब्रिटिश शासन में ही संभव है। इस तर्क के पीछे उपयोगितावादी दृष्टिकोण निहित है क्योंकि प्राचीन भारत और मध्यकाल में अधिकतम लोगों की अधिकतम खुशी सम्पादित नहीं होती थी।

**3. इवेंजेलिकल दृष्टिकोण**—इतिहास लेखन के इस दृष्टिकोण के प्रवर्तक अलेक्जेंडर डफ माने जाते हैं। इस दृष्टिकोण की सभी बातें उपयोगितावादियों के समान हैं, केवल एक अन्तर है कि उपयोगितावादी भारत के न्याय, शिक्षा, समाज, आदि में परिवर्तन की बात करते हैं जबकि इवेंजेलिकल धर्म को भी बदलने की बात करते हैं। अर्थात् यदि भारतीयों को ईसाई बना दिया जाए तो शेष व्यवस्थागत कार्य आसान हो जाएंगे।

**4. हीगल का दृष्टिकोण**—हीगल ने इतिहास के विकास के लिए द्वन्द्वत्मकता के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। उनका मानना है कि इतिहास का विकास चरणबद्ध तरीके से होता है। एक चरण से दूसरे चरण में जाने के क्रम में सबसे पहले चेतना के स्तर पर परिवर्तन आता है। यह परिवर्तन अपूर्णता से पूर्णता की ओर एक प्रयास के कारण होता है। चेतना में एक पक्ष पहले से मौजूद रहता है। इस पक्ष की कमियों के कारण प्रतिपक्ष का विकास होता है, यहीं से परिवर्तन की शुरुआत होती है। पक्ष और प्रतिपक्ष के बीच से सम्पक्ष का विकास होता है। (Thesis + Anti thesis = Synthesis)। कुछ समय बाद यही सम्पक्ष अपनी अपूर्णता के कारण पक्ष बन जाता है, पुनश्च इसकी आलोचना, प्रतिपक्ष का उद्गम और सम्पक्ष के निर्माण की प्रक्रिया होती है। प्रत्येक चरण में इतिहास एक कदम आगे बढ़ता है और यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक पूर्ण विकास नहीं हो जाता।

हीगल की मान्यता है कि इतिहास का विकास बौद्धिक द्वन्द्व के माध्यम से होता है, लेकिन भारतीय समाज अपरिवर्तनशील रहा क्योंकि यहाँ बौद्धिक द्वन्द्व का विकास नहीं हुआ। हीगल पर उपयोगितावाद का प्रभाव था, उनके अध्ययन का स्रोत मिल की पुस्तक थी अतः उन्होंने भारतीय समाज का विश्लेषण किए बिना ही इसे जड़ मान लिया।

# साम्राज्यवादी लेखक

## जेम्समिल, विन्सेंट स्मिथ और एलिफिंसटन

इन लेखकों को दो श्रेणियों में बाँट सकते हैं—

क) उपयोगितावादी एवं (ख) वे लेखक जो ब्रिटिश प्रशासनिक अधिकारी के रूप में काम किए थे।

### उपयोगितावादी लेखकों की मुख्य मान्यताएं

(क) प्राचीन भारतीय लोगों ने बौद्धिक और भौतिक एवं राजनीतिक मोर्चाओं के ऊपर कोई श्रेष्ठ उपलब्धि हासिल नहीं किया था।

(ख) उनकी धार्मिक और सांस्कृतिक मान्यताएं भी प्रायः असंगत रहीं थीं।

(ग) वहां निरंकुश राजतंत्र के पास ही साधनों का स्वामित्व रहा था।

(घ) इन शासकों ने विकास के क्षेत्र में कोई महत्वपूर्ण योगदान नहीं दिया।

(ङ.) सामाजिक स्तर पर इनका व्यवहार रुढ़िवादी रहा जो परंपरागत व्यवस्था की खूबियों और खामियों की जांच किये बगैर ही उसका अंधानुकरण करते थे। इसलिए समाज प्रायः गतिहीन रहा।

(च) प्रशासक लोगों के बीच में से जो इतिहास लिखा गया उनके समय तक इतिहास में शोधकार्य कुछ आगे बढ़ चुका था और फिर इस क्रम में उन्होंने भारत में उपलब्धियों के कुछ प्रतिमानों को स्वीकार कर लिया, लेकिन उन्होंने यह दिखाने का प्रयास किया कि (1) ये उपलब्धियां ग्रीक सभ्यता से पिछड़ी थीं। (2) उन उपलब्धियों में प्रायः विदेशी भूमिका रही है।

साम्राज्यवादी लेखन का उद्देश्य :

(क) ये भारत की उपलब्धियों को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होते क्योंकि भारत के अतीत की उपलब्धियों को शून्य दिखाना साम्राज्यवादी शासन के हितों से जुड़ा हुआ था। वे यह दिखाना चाहते थे कि ब्रिटिश शासन भारत के लिए उपयोगी है। इनके इतिहास लेखन के उदाहरण :

(क) हड़प्पा काल के ऊपर लिखने वाले साम्राज्यवादी इतिहासकार प्रायः यह दिखाने की कोशिश करते हैं कि हड़प्पा सभ्यता का उद्भव विदेशी पृष्ठभूमि से हुआ था।

(ख) वैदिक काल पर लिखने वाले साम्राज्यवादी इतिहासकारों ने उसे एक जड़ समाज की तरह दिखाया।

(ग) शेष प्राचीन भारत की सामाजिक दशा जैसे वर्ण व्यवस्था, दास व्यवस्था, महिलाओं की दशा, व्यापार वाणिज्य का विकास आदि के बारे में भी उन्होंने यही रवैया अपनाया।

(घ) मौर्यकाल की कलात्मक उपलब्धियों पर लिखने वाले इतिहासकारों ने उसे ईरानी कला से प्रभावित दिखाने का प्रयास किया। यहां तक कि अजन्ता के पीछे भी ग्रीक प्रेरणा की बात करते हैं।

(ङ.) मौर्योत्तर काल की मूर्तिकला में मथुराकला को गांधार कला से प्रभावित बताकर भारतीय कला को विदेशी कला के प्रभाव से विकसित बताने की कोशिश दिखती है।

(च) विज्ञान और शिक्षा के क्षेत्र में भारतीयों की उपलब्धि नकारने की प्रवृत्ति नजर आती है। इसके लिए प्राच्यवादी लेखकों के द्वारा भारतीय ज्ञान-विज्ञान की प्रशंसा को भ्रामक बताया।

(छ) आध्यात्मिक और नैतिक क्षेत्र में भी भारतीयों की उपलब्धियों को प्रायः नजरअंदाज करने की कोशिश किया गया।

(ज) भारतीय इतिहास का साम्प्रदायिक आधार पर काल विभाजन किया गया। प्राचीन काल, हिन्दू काल बना एवं मध्य काल, मुस्लिम काल और आधुनिक काल, ब्रिटिश काल।

### राष्ट्रवादी इतिहास लेखन :

इसमें मजूमदार, राय चौधरी और काली कृष्ण दत्ता, यू.एन. घोषणा एवं के.पी. जायसवाल जैसे लोगों को रखा जाता है। इन्होंने भारत का इतिहास जब लिखना शुरू किया था तो ये तीन प्रकार की पृष्ठभूमि से प्रभावित थे—

(क) प्राच्यवादी इतिहास लेखन की भारत की आध्यात्मिक, सांस्कृतिक उपलब्धियों का ब्यौरा।

(ख) साम्राज्यवादी इतिहास का काल विभाजन एवं भारतीय इतिहास की उपलब्धियों की संपूर्ण अस्वीकृति।

(ग) भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन—

राष्ट्रीय आन्दोलन की राजनीतिक एवं साहित्यिक धारा की ही तरह ये इतिहास लेखन के माध्यम से राष्ट्र निर्माण और साम्राज्यवाद विरोध की अपनी भूमिका को रेखांकित करने की कोशिश कर रहे थे। इन्होंने यह दर्शाया की भारत अपने अतीत में स्वर्णिम उपलब्धियों से परिपूर्ण रहा है। इसके प्रमाण के रूप में राजनीति में बड़े साम्राज्य, विस्तृत और केन्द्रिकृत प्रशासनिक व्यवस्था, राजनीति की उन्नत विचारधारा को इतिहास में दिखाने की कोशिश की गयी। हॉब्स और लॉक जैसे विचारकों की विचारधारा को भारत के वैदिक काल में ही मौजूद बताया गया। तैतरेय ब्राह्मण और त्रैतरीय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण में इसके लिए उदाहरण खोजा गया। इन्होंने साम्राज्यवादी इतिहास लेखन की इस बात का खंडन किया की प्राचीन काल के राजा अत्याचारी और लोकहित के प्रति निरपेक्ष रहते थे। इसके स्थान पर इन्होंने यह दिखाने का प्रयत्न किया कि यद्यपि ये शक्ति के मामले में अर्थशास्त्र की तरह निरंकुश थे, लेकिन व्यवहार में धर्मशास्त्रों के आदर्शों का पालन भी करते थे। यूरोप की लोकतांत्रिक उपलब्धियों के दावे और भारत में उसकी असम्भाव्यता को लेकर इन्होंने गणतंत्रों का इतिहास और चोल कालीन ग्रामीण शासन के माध्यम से यह दर्शाने का प्रयास किया कि भारत में गणतांत्रिक, लोकतांत्रिक संस्थाएँ पहले से ही मौजूद रही हैं। राजनीति के साथ ही भारत की आर्थिक एवं सांस्कृतिक उपलब्धियों पर बल दिया। इनमें प्राच्यवादियों के उस दावे की स्वीकृति थी कि भारत सांस्कृतिक गौरव से परिपूर्ण इतिहास वाला देश है, लेकिन ये यह भी जोड़ते थे कि आध्यात्मिक के साथ ही लौकिक क्षेत्र में भी भारत की उपलब्धियाँ सराहनीय रहीं। इन्होंने ब्रिटिश प्रशासक इतिहासकारों का भी पूर्ण खंडन किया जिसके तहत यह कहा गया था कि भारतीय लोग कई सारी उपलब्धियाँ या तो ग्रीक समाज की उपलब्धियों से कमतर हैं या फिर किसी प्रकार से ग्रीक प्रेरणा से प्रभावित हैं। साम्राज्यवादी इतिहासकार जहाँ, अजंता तक को ग्रीक प्रेरणा का परिणाम बताने के प्रति आग्रहशील थे, वहीं राष्ट्रवादी मौर्यकला के पीछे भी किसी विदेशी प्रेरणा को नकारने की प्रवृत्ति दर्शाते हैं। यहाँ तक कि ये लोग गंधार कला को भी देशीकृत शैली बता रहे थे।

### सीमाएं :

(क) इन्होंने प्राचीनकाल में ही भारत की संकल्पना को देखने का प्रयत्न किया और कई बार देशी बनाम विदेशी की बातें इनके इतिहास में नजर आती हैं और इस क्रम में इस बात को भुला दिया गया कि प्राचीन काल के गौरवपूर्ण साम्राज्य निर्माता भी अंततः साम्राज्यवादी ही थे। इस क्रम में कई बार क्षेत्रीय राज्यनिर्माण को पतन के प्रतीक के रूप में देखा गया क्योंकि उस समय भारत में कोई एक राजनीतिक सत्ता नजर नहीं आती। मौर्योत्तर काल एवं पूर्वमध्य काल जैसे काल खण्डों के उदाहरण से इसे समझा जा सकता है

(ख) आर्थिक स्तर पर इतिहास लेखन की गंभीर कोशिश नहीं हुई। इसके परिणामस्वरूप मौर्योत्तर काल को प्रायः इन्होंने अंधकार युग के रूप में देख लिया।

(ग) इनके इतिहास लेखन में भारतीय समाज के अंतर्विरोधों, जैसे महिलाओं की दशा में गिरावट, शूद्रों की दुर्दशा, अस्पृश्यता, मजदूरों का शोषण आदि विषयों की प्रायः उपेक्षा हुई। इसलिए इन्होंने गुप्तकाल की उपलब्धियों को उत्साहित तरीके से व्याख्यायित करते हुए उसे स्वर्ण के रूप में प्रस्तुत कर दिया।

(घ) इन्होंने साम्राज्यवादियों के द्वारा हिन्दू काल, मुस्लिम काल की तरह भारत के काल विभाजन को स्वीकार कर लिया। इसके परिणाम स्वरूप साम्राज्यवादी सरकार और संप्रदायिक राजनीति को दो राष्ट्र के सिद्धांत के गठन का औचित्यपूर्ण आधार मिला जो अंततः विभाजन का कारण बना था।

### मार्क्सवादी इतिहास लेखन :

मार्क्सवादी इतिहास लेखन प्राचीन भारत में दो स्तर का रहा है। (क) एशियाई उत्पादन प्रणाली (ख) ऐतिहासिक द्वंद्वत्मकता एवं उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व से अधिशेष के नियंत्रण की कोशिश में उपजे हुए राज्य समाज संस्कृति आदि के शोषण एवं शोषण की सहायता तंत्र की पहचान करना। मार्क्स भारत नहीं आये थे। उन्होंने जेम्स मिल द्वारा भारत के बारे में दिए गए उस ब्योरे को स्वीकार कर लिया जिसमें राजा को ही भारत की समस्त भूमि का स्वामी बनाया गया था। मार्क्स की व्याख्या यह कहती है कि जब समाज के उत्पादन का निजी स्वामित्व शुरू होता है तभी से वर्ग को जन्म मिलता है। इसी के तहत विश्व में विभिन्न प्रकार की संस्थाओं और संकल्पनाओं को विकसित किया गया। उत्पादन के साधनों के स्वामी वंचित लोगों का शोषण करते हैं। इसलिए समाज में द्वंद्व की एक स्थिति होती है। भौतिक परिस्थितियां जब भी बदलती हैं तो आपसी टकराव वाली व्यवस्था भी बदल जाती है, जैसे कम आबादी की स्थिति में स्वामी लोग जहां दास प्रथा चला रहे थे, वहीं आबादी की वृद्धि के परिणाम स्वरूप जब दास प्रथा तुलनात्मक रूप से मंहगी होने लगी तो उसका त्याग कर दिया। इस अध्ययन प्रणाली में अर्थव्यवस्था को केन्द्रीय स्थान प्राप्त होता है एवं समाज एवं संस्कृति की भूमिका सहायक होती है। अपनी अध्ययन की इस वैचारिक भूमि के आधार पर ही मार्क्स ने यह घोषित कर दिया कि प्राचीन भारत में समाज गतिहीन बना रहा, क्योंकि उत्पादन के साधनों का स्वामित्व राजा के पास था।

बाद के मार्क्सवादी इतिहासकारों ने मार्क्स की इस गलती को सुधार दिया और उन्होंने यह साबित किया कि भारत में उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व उत्तर वैदिक काल से ही मजबूती से स्थापित हो चुका था। इसलिए इन्होंने भारत के समाज में द्वंद्वत्मकता के सिद्धान्त को तलाशने की कोशिश किया। उनकी मान्यताओं में हम निम्न बातों को चिन्हित कर सकते हैं।

1. अर्थव्यवस्था का विकास की धुरी के रूप में देखना।
2. अर्थव्यवस्था के अनुसार ही राजनीति, धर्म, समाज, संस्कृति के गुण दोष आदि की विवेचना।
3. उत्थान और पतन की पूरी व्यवस्था को आधारभूत परिवर्तन के साथ ही द्वंद्व के माध्यम से व्याख्यायित करना।
4. विकास के विभिन्न चरणों को ऐतिहासिक द्वंद्वत्मकता के मार्क्स के तर्क के अनुसार गढ़ने का प्रयास करना। यथा—

1. पाषाण काल से लेकर हड़प्पाकाल, वैदिक काल 6ठीं ई.पू. आदि सभी कालखंडों के अध्ययन में इस बात पर बल देते हैं कि अर्थव्यवस्था ने ही इन्हें रूपाकार देने में सबसे अहम भूमिका निभाया, जैसे कि पाषाणकाल में उपकरणों के आधार पर जीवन में परिवर्तन, हड़प्पाकालीन नगर के आधार के रूप में पहले कृषि को रखा गया और इसके बाद व्यापार और उद्योग को। ऋग्वैदिक काल में अर्थव्यवस्था का आधार पशुपालन था इसलिए समाज घुमंतू, असुरक्षित, सामुदायिक एवं बराबरी वालों का बनकर विकसित हुआ और उत्तरवैदिक काल में कृषि के आते ही जीवन की पद्धति मौलिक रूप से बदल गई।

2. वर्णव्यवस्था का उद्भव, धर्म-सुधार आंदोलन का विकास, कला संस्कृति आदि के साथ ही राज्यों के बनने और बिगड़ने में अर्थव्यवस्था को ही केन्द्रीय स्थान देते हैं एवं अन्य कारकों को सहायक बना देते हैं।

3. वैश्यों, शूद्रों, दासों आदि के द्वारा बौद्ध धर्म के लिए समर्थन को मार्क्सवादी इतिहासकार इसी तरीके से वख्याया करते हैं।

4. इसके तहत मार्क्सवादियों ने आरम्भ में दासों की उत्पादन में भूमिका को स्वीकार करने की प्रवृत्ति दिखाया। पुनः दास प्रथा के बाद सामंतवाद के आगमन को दिखाने की कोशिश किया। डी.डी. कौशांबी, रामशरण शर्मा, रामिला थापर, डी. एन. झा सभी इतिहासकार पूर्व मध्यकाल में सामंतवाद को भारतीय इतिहास का एक सच मानते हैं।

**सीमाएं :** क) अर्थ व्यवस्था के महत्व पर अधिक बल। इसके तहत मार्क्सवादी इतिहासकार, इतिहास निर्माण में राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक कारकों की भूमिका को गौण कर देते हैं। इससे सभ्यता के विकास में व्यक्ति के योगदान की उपेक्षा हो जाती है, जैसे की उपनिषदों की विचारधारा, गौतम बुद्ध और महावीर की विचारधारा आदि की भूमिका की उपेक्षा।

(ख) मार्क्सवादी इतिहास लेखन में राजनीति को आवश्यक रूप से अर्थव्यवस्था में प्रबल वर्ग के लोगों का हितसाधक बता दिया गया है। जिससे राज्य की सकारात्मक भूमिकायें उपेक्षा का शिकार हो जाती है, जैसे अशोक, अकबर आदि की भूमि के अंदर उसके निजी व्यक्तित्व की उपेक्षा होती है।

(ग) मार्क्सवादी इतिहास लेखन में दास की महत्वपूर्ण भूमिका और सामंतवाद के चरण को देखने की अनिवार्य कोशिश होती है।

(घ) मार्क्सवादी इतिहास लेखन में सामाजिक और नैतिक मूल्यों के विकास में धर्म और दर्शन की भूमिका की प्रायः उपेक्षा होती है और इसके कारण निवृत्तिमूल, चार पुरुषार्थ, चार आश्रम, ऋण व्यवस्था, ऋत के नियम आदि की भूमिका की अवहेलना होती है और ऐसे इतिहासकार किसी भी काल के धर्म की व्याख्या को अज्ञान एवं स्वार्थ के माध्यम से व्याख्यायित करने की कोशिश करते हैं।

(ड.) इन्होंने समाज का वर्णन करने के लिए अत्यधिक अर्थ पर बल दिया है। वर्ग व्यवस्था को उच्च और निम्न रूप में रेखांकित की गयी है जो मार्क्सवाद के सर्वहारा के तर्ज पर आधारित है, जैसे— हड़प्पा कालीन समाज के अंदर दो वर्ग की बात करना या फिर गुप्तकाल के ऊपर इतिहास लिखने के क्रम में मार्क्सवादी लेखकों ने प्रायः यह प्रयत्न किया है कि वहां उच्च वर्ग तक ही समस्त उपलब्धियों को सीमित करके दिखाया जाये और निम्न वर्ग को विकास की पूरी प्रक्रिया से कटा हुआ और वंचित के रूप में दर्शाया जाये। डीडी कौशांबी तो यहां तक कह देते हैं कि “कालिदास का साहित्य गरीबों के लहू से लिखा गया था।”

(च) मार्क्सवादी इतिहास लेखन में यह प्रवृत्ति रही है कि वो प्रायः मौर्यकाल की सराहना की दृष्टि से देखते हैं क्योंकि उसमें राज्य ने अधिक शासन किया और राज्य के माध्यम से कल्याण की नीति पर बल दिया है। उसके समांतर उन्होंने गुप्तकाल की सराहना के बजाय कटु आलोचना किया, क्योंकि यहां शासक ने मौर्यों से कम शासन करने और कल्याण के मामले में कम भूमिका निभाने की नीति अपनाया। ऐसा इसलिए क्योंकि मार्क्सवादी विचारक उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण करने वाले और शासन में ज्यादा दखल देने वाले राज्यों को बेहतर मानते हैं जबकि गुप्तकाल की पद्धति को पूंजीवाद के करीब पाते हैं।

## राजपूत नीति क्या थी? (अकबर की राजपूत नीति)

अकबर राजपूताना को अधीनस्थ करना चाहता था और इसके लिए अकबर के मस्तिष्क में कोई उलझन भी नहीं थी। ऐसे में उसने राजपूतों से मित्रवत् संबंध बनाया और जो मित्रता के लिए उद्यत नहीं थे, उन्हें युद्ध में पराजित किया। 1567-68 के चित्तौड़ अभियान के पहले भारमल जैसे कुछ शासक ही अकबर की अधीनता स्वीकार करते थे। अधिकांश राजाओं ने 1568 और इसके बाद अकबर की अधीनता स्वीकार किया। इन अधीनस्थ शासकों के प्रति अकबर के द्वारा अपनाई गई नीति और उसके पूर्व के शासकों के द्वारा अपनाई गई राजपूत नीति में यहाँ एक प्रस्थान बिंदु नजर आता है, जहाँ पूर्व के शासक विजय और उसके बाद प्रत्यक्ष नियंत्रण की नीति और संभव न हो सके तो पेशकश की नीति और आवश्यकता पड़ने पर सैन्य सहयोग (सेना भेजने) की नीति अपनाते थे, वहीं अकबर ने जहाँ पूर्व की नीति जो **लेने** पर आधारित थी, के स्थान पर '**लेन-देन**' के आधार पर नीति का संचालन किया। **देने** के तहत राजपूत शासकों और मुगल शासकों के संबंधों का एक आधार तय किया गया। राजाओं को अपने क्षेत्र में शासकीय स्वायत्तता दी गई, धार्मिक, सांस्कृतिक स्वतंत्रता दी गई और उनका सम्मान दरबारी स्तर पर भी स्वीकार किया गया। यानि कि अकबर एक साम्राज्यवादी संस्कृति का विकल्प लेकर नहीं आता है, बल्कि विकल्प के रूप में वह **समन्वयवादी संस्कृति** रखता है, जिससे राजपूतों को मुगलों से जुड़ने में सहूलियत हो। दूसरी तरफ अकबर ने कहा कि आप स्वायत्त तो हो, लेकिन आपकी राजकीय अधिकारिता का अंतिम निर्धारण **संप्रभु** करेगा। यानि कि राजपूत शासकों के उत्तराधिकार का अंतिम निर्णय मुगल शासक को करना था, जैसे कि थट्टा के शासक की मृत्यु के बाद जब सरदारों ने विक्रमजीत को अपना शासक घोषित कर दिया तो अकबर ने आदेश दिया कि उस क्षेत्र को पहले अकबर के अधीन किया जाए और फिर यह निर्णय लिया जाएगा कि उस क्षेत्र का शासक कौन होगा? पुनः जोधपुर में मालदेव की मृत्यु के बाद वहाँ के उत्तराधिकार के प्रश्न पर अंतिम निर्णय देते हुए अकबर ने इनके तमाम दावेदारों से इतर मोटा राजा उदयसिंह को इसलिए शासक बनाया, क्योंकि वह अकबर के प्रति वफादार था।

अकबर ने अपने पूर्व के शासकों के वनिस्पत राजपूतों को अपने शासन से जोड़ने का प्रयत्न किया। पुनः उसने विद्रोहों के दमन में तुरानियों के खिलाफ राजपूतों को खड़ा किया। पश्चिमोत्तर क्षेत्र, पंजाब, बंगाल, बिहार जैसे महत्वपूर्ण प्रांतों का सूबेदार भी राजपूतों को बनाया गया। इसके इतर मानसिंह, मिर्जा अजीज कोका के साथ मात्र ऐसा मनसबदार था जिसे 7000 का मनसब दिया गया, अर्थात् प्रशासन में इन्हें योग्यता के अनुसार वैसे पद दिए गए, जो किसी विश्वसनीय, सम्मानीय और सक्षम अधिकारी को दिया जा सकता था। अपने और अपने सरदारों के साथ संबंधों को सुदृढ़ बनाने के लिए अकबर ने **वैवाहिक नीति** का भी सहारा लिया। इसके महत्वपूर्ण अभिलक्षण थे :- पहले तो नीतिगत स्तर पर अपना ही नहीं, आने वाले शासक जैसे जहाँगीर का भी वैवाहिक संबंध स्थापित किया, इसके साथ ही **बीकानेर के कल्याणमल, जैसलमेर के रावल, जोधपुर के चंद्रसेन, आमेर के भारमल** आदि से भी वैवाहिक संबंध स्थापित किया। इस प्रकार के वैवाहिक संबंधों को एक विशिष्ट रूप दिया गया, जैसे कि **उनका धर्मान्तरण नहीं होता था, उनका अपने मायके से संबंध नहीं टूटता था**, जैसे कि भगवान सिंह के पुत्र की मृत्यु होने पर अकबर ने हरखाबाई, जो आमेर की राजकुमारी थी, को मातमपूस्ती के लिए भेजा। इसके अतिरिक्त **विवाह के वक्त शहशाह सहित बारात लड़की के घर पर जाती थी।** इससे मुगल शासकों के साथ वैवाहिक संबंध से सरदार और शासक के बीच वैयक्तिक संबंध को भी बल मिला, जिसने विश्वास बहाली को दृढ़ किया एवं राजपूत शासकों में भी विवाह संबंध स्थापित करने प्रति उत्साह बढ़ा। इस विवाह नीति की अगली विशेषता यह थी कि यह स्वैच्छिक था, जैसे कि रणथंभौर, शिरोही, बाँसवाड़ा आदि के शासकों ने अकबर के साथ वैवाहिक संबंध स्थापित नहीं किया, लेकिन उन्हें भी मुगल मनसबदारी में शामिल किया गया। राजपूत राजाओं का अपना पैतृक क्षेत्रों से संबंध को महत्व देते हुए उन्हें मनसबदारी में शामिल करने के बाद जागीर के रूप में **वतन जागीर** दिया गया, जो वंशानुगत एवं स्थायी होती थी। इससे उन क्षेत्रों में शासकीय समर्पण की भावना को बल मिलता है। राजपूत शासकों की एक बड़ी शक्ति यह थी कि एक शासक के अधीनस्थ कई सरदार उनके प्रति वफादार होते थे। अकबर ने शासक और उनके सरदारों के बीच के संबंध को कमजोर करने की नीति अपनाई, जिसके तहत उसने सिर्फ राजाओं को ही मनसब नहीं दिया, बल्कि उनके अधीनस्थ सरदारों को भी मनसब दिया, जिससे सरदार अपने राजपूत राजा की अधीनता स्वीकार करने के बजाए **पादशाह** की अधीनता स्वीकार करेंगे। ऐसे में अकबर ने राजपूत शासकों की शक्ति के आधार को अपनी शक्ति का आधार बना

लिया और फिर उन्हें राजपूत क्षेत्र में जागीर देने की नीति अपनाई, जिससे राजपूत शासकों का अपने क्षेत्र से प्रभाव घटता था। कभी-कभी एक क्षेत्र के सरदार को दूसरे क्षेत्र में भी जागीर दिया जाता था, जैसे कि आमेर में सांजनीर परगना या फिर सिराही का एक अंश राणा प्रताप के भाई जगमल को दे दिया, जो अकबर के प्रति वफादार था। यानि कि उसने सिराही और मेवाड़ के बीच पूर्व के संबंध और भविष्यत की संभावना का रणनीतिक समाधान खोजा। तात्पर्य यह है कि अकबर ने राजपूत शासकों को उपर और नीचे दो सिराओं से कमजोर करने की नीति अपनाई और अपने क्षेत्र में कमजोर इन शासकों को केन्द्र में इनकी उपयोगिता के अनुसार महत्वपूर्ण ओहदा दिया। इस संदर्भ में यह भी स्मरणीय है कि अकबर की राजपूत नीति हमेशा दो आयामी रही – एक उन्हें सक्षम बनाने की दूसरा उन्हें कमजोर करने की और इन दोनों के बीच विश्वास बहाली को अकबर ने एक संपर्कसूत्र की नीति के रूप में अपनाया, जैसे कि एक तरफ तो वह मुगलों के साथ ही सिर्फ राजपूतों को ऐसी अनुमति देता है कि वो अपनी सेना में सिर्फ राजपूत सवार रख सके और दूसरी तरफ वह राजपूतों के विरुद्ध राजपूतों को ही खड़ा करके राजपूताना पर अपना नियंत्रण स्थापित करना चाहता है। मोटे तौर पर अकबर ने राजपूताना को प्रत्यक्ष नियंत्रण में लाने का प्रयत्न भी किया और उन्हें स्वायत्तता देने की नीति भी अख्तियार की, जैसे कि उसने 20 वर्षों तक जोधपुर को अपने अधीन रखा या फिर बीरबल को राजपूताना में जागीर दिया गया या फिर किसी राज्य क्षेत्र में किसी दूसरे राज्य क्षेत्र के सरदार को जागीर दिया गया। कुल मिलाकर देखें तो समस्त राजपूताना संबंधी अकबर की नीति किसी ऐसे संविधान से नहीं संचालित होती थी, जिसे मानने के लिए स्वयं अकबर भी बाध्य हो। इसलिए सामान्यतौर पर अकबर द्वारा अपनाई गई नीति के कई अपवाद भी नजर आते हैं।

अकबर की राजपूत नीति एक चरणबद्ध विकास की प्रक्रिया से होकर गुजरी। 1562 से लेकर 1572 तक एक चरण रहा, 1572 से 1580 तक दूसरा चरण रहा और 1580 के बाद तीसरा चरण रहा। इस बीच नीति का पहला आधार स्पष्ट हुआ कि अकबर राजपूतों को नियंत्रित करना चाहता था, इसके लिए उसने मनसब दिया, धार्मिक स्वतंत्रता एवं स्वायत्तता दिया, यदि वो इतने के बावजूद भी तैयार नहीं हुए तो उनपर हमला किया और इन दोनों ही नीतियों का संयुक्त प्रतिफल यह हुआ कि 1570 तक मेवाड़ को छोड़कर लगभग सभी राज्यों ने अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली। राजपूताना की शक्तियाँ दो बातें समझ चुकी थीं कि अकबर राजपूताना को अधीन करने के लिए प्रतिबद्ध है और हम उससे निपटने में सक्षम नहीं हैं तो बेहतर है कि अकबर की प्रभुसत्ता स्वीकार कर लें। इसमें भी यदि अकबर राजपूतों की समस्त राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक संभावनाओं को खत्म कर देता तो वो अपनी मृत्यु तक लड़ने के लिए तत्पर हो जाते, ऐसे में अकबर ने उन्हें एक संभावना सम्पन्न जीवन का आधार भी दिया। इस पहले चरण की सीमा यह रही कि अकबर ने राजपूतों को वफादार मित्र का दर्जा दिया था, लेकिन परस्पर विश्वास बहाली और राजपूतों की सैन्य प्रतिभा के प्रति अकबर की विश्वास बहाली इन दोनों को अभी कुछ दूर और सफर करना था। 1572 तक हम देखते हैं कि अकबर ने राजपूतों को कोई महत्वपूर्ण जिम्मेदारी नहीं दी और ना ही राजपूत उसके साथ सैन्य अभियानों में थे। दूसरे चरण की शुरुआत गुजरात अभियान से होती है। यहाँ अकबर ने अपने साथ राजा मानसिंह को रखा और आगरा के महल की जिम्मेदारी भारमल को दिया तथा जब अकबर गुजरात जा रहा था तो गुजरात के अभियानरत शासक (अकबर) मेवाड़ की कोई परवाह किये बगैर गुजरात जाता है और मेवाड़ पर नियंत्रण के लिए सिराही के शासक को भेजा, अर्थात् राजपूत के विरुद्ध राजपूत को खड़ा करने की नीति अपना रहा था। इस नीति की अगली कड़ी यह है कि राणा प्रताप सिंह के खिलाफ अभियान के नेतृत्व के लिए मानसिंह को चुना गया, फिर इसी दौर के अंतिम चरण में अकबर के विरुद्ध जब मिर्जाओं का विद्रोह होता है तो उनके दमन के लिए भी इसने राजपूतों का इस्तेमाल किया। यहाँ स्मरणीय है कि अकबर ने अभी तक राजपूतों को बस अपनी कमर की तलवार के रूप में इस्तेमाल किया है, लेकिन सत्ता की भागीदारी से उन्हें दूर रखा। इसके बाद अकबर ने राजपूतों को शक्ति ही नहीं अपनी सत्ता से भी जोड़ लिया। यहाँ स्मरणीय है कि 1580 के बाद अकबर की राजपूत नीति इस कारण भी सुस्पष्ट हो जाती है, क्योंकि अब तक अकबर की सामाजिक और सांस्कृतिक नीति भी उदारता ओर विचलन से गुजरते हुए सुसंगत आधार प्राप्त कर चुकी थी और इस तरह से देखें तो राजपूत नीति को अकबर के साम्राज्यवाद, मिश्रित राजकीय वर्ग तैयार करने की नीति और सुलह-ए-कुल के साथ अन्यान्याश्रिय रूप से जुड़ा हुआ पाते हैं। अकबर की यह राजपूत नीति कहीं कछवाहा राजपूत नीति तो नहीं है? इस प्रश्न पर यदि विचार करें तो 1595 से लगभग 10



वर्ष बाद तक राजपूतों की जो संख्या बढ़ी उसमें 13 संख्या कछवाहों की थी, जिसमें भारमल, भगनसिंह, मानसिंह, भूपत सिंह आदि नजर आते हैं। यह असंतुलन जहाँगीर के काल में जाकर दूर हुआ, लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि अकबर की राजपूत नीति कछवाहा नीति थी, बल्कि इस दौरान सिरोही, कलयाण, जैसलमेर, जोधपुर और बीकानेर आदि के शासकों को भी मनसब प्रदान किये गए तथा बीकानेर के शासक को कुछ दिनों के लिए लाहौर का शासक बनाया गया या फिर सिरोही के राजा को गुजरात का शासक बनाया गया। चूंकि कछवाहों के साथ अकबर का संबंध सबसे पुराना था, इसलिए उन्हें वरीयता दी गई। यह वरीयता विश्वसनीयता और योग्यता की पारितोषिक थी और यह पारितोषिक उन्हें अन्य राजपूत शासकों के सापेक्ष ही नहीं सर्वांगीण स्तर पर देखें तो इरानी, तुरानी और शेखजादों आदि सभी के सापेक्ष मिली हुई थी, जैसे कि अकबरकालीन प्रशासन की संरचना में अधिकारियों के दर्जा का बोध उसके पद से नहीं, बल्कि मनसब व्यवस्था में उसकी जात से होता था, जैसे कि टोडरमल तो दीवान था, लेकिन उसका मनसब 2000 का था, वैसे ही मानसिंह को 7000 का मनसब प्राप्त था, लेकिन कोई महत्वपूर्ण प्रशासनिक दर्जा नहीं दिया गया था।

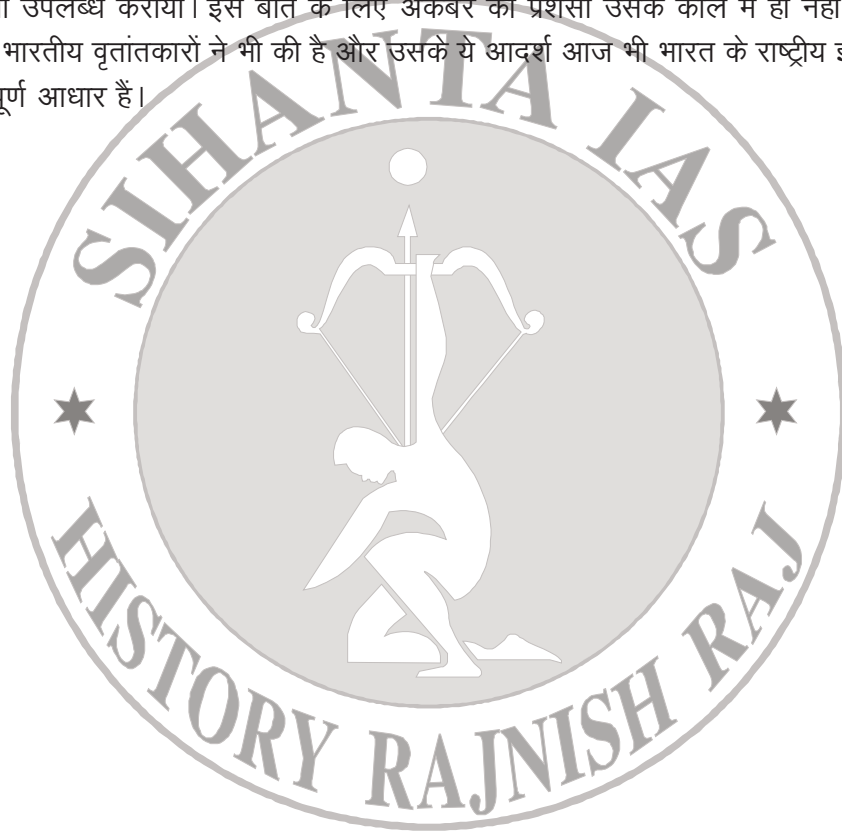
## राणा प्रताप सिंह

राणा प्रताप सिंह गुहिलों की मेवाड़ शाखा की उस परंपरा का शासक था, जिसमें राणा कुंभा ने महमूद खिलजी और राणा सांगा ने इब्राहिम लोदी और बाबर से संघर्ष किया था। इस वंश परंपरा में सक्षम शासकों में सबसे अधिक चित्ताकर्षक व्यक्तित्व राणा प्रताप सिंह का है। उसने अकबर के साम्राज्यवाद के सामने एक के बाद एक अपनी प्रभुता को समर्पित करते राजपूतों के बीच मेवाड़ को स्वतंत्र बनाये रखने का हरसंभव प्रयत्न किया। राणा की विशिष्टताओं में से महत्वपूर्ण बिंदु इस प्रकार हैं :- मेवाड़ की स्वतंत्रता में अखंड विश्वास, आत्मसम्मान का उत्कट स्तर, आत्मबल का अदम्य रूप अपनी आबादी के एक महत्वपूर्ण अंग भीलों के बीच किका (बड़े भाई) के रूप में था और भारतीय इतिहास में गुरिल्ला युद्ध पद्धति के सबसे महान प्रणेताओं में से एक थे। इस आधार पर अकबरी साम्राज्यवाद की प्रचंड शक्ति से मुकाबला करने के लिए उन्होंने अफगानों से गठजोड़ किया और फिर हल्दी घाटी की पराजय के बाद चांबड से लगातार अपना प्रतिरोध जारी रखा और इस दौरान राणा प्रताप सिंह के व्यक्तित्व में जो तत्व सबसे ज्यादा रोमांच पैदा करता है, वो यह कि एक तरफ जहाँ उन्हें मुगल मनसबदारी व्यवस्था के तहत सुख-सुविधा की प्राप्ति सहज हो सकती थी, वहीं उस दौरान राजपूताना मुगलों के साथ इस तरह से संबद्ध हो चुका था कि यह राणा प्रताप सिंह के लिए बहुत ज्यादा अपमानजनक भी नहीं होता, लेकिन राणा ने सुविधा के उपर स्वतंत्रता को वरीयता दी और स्वतंत्रता को आत्मसम्मान से जोड़कर देखा और इस तरह कठोर एवं सुविधा विहीन जीवन जीया कि साहित्यकारों के लिए यह एक विषय बन गया। पुनः राणा के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का मूल्यांकन हम कुछ अन्य प्रतिमानों पर भी कर सकते हैं, जैसे मेवाड़ की स्वतंत्रता या कि राजपूताना की स्वतंत्रता या कि भारत की स्वतंत्रता। यहाँ हमें दिखता है कि राणा की दृष्टि में कोई वृहत्तर भारतीय संकल्पना नहीं थी। राणा प्रताप सिंह राजपूताना के अन्य शासकों के साथ भी कोई मोर्चा नहीं तैयार कर सके। ऐसे में स्पष्टतया उनकी राजनैतिक और सैनिक शक्ति की अधिकतम सीमा एक विफल प्रतिरोध की ही है, जिसकी कामयाबी का पहला शर्त हो सकता था कि केन्द्र की सत्ता कमजोर हो, जबकि नियति ने इनके सामने अकबर को रखा। फिर दूसरा विकल्प हो सकता था एक कुशल राजनैतिक प्रबंधन, जो विविध राजपूत शक्तियों के बीच संघ और अन्य संभावनाओं के साथ गठजोड़ कर अकबर का प्रतिरोध करती। लेकिन राणा इस मोर्चे पर कोई उपलब्धि नहीं हासिल कर सके। ऐसे में राणा का महात्म्य व्यक्तित्व से ज्यादा और कृतित्व से कम निर्देशित है। जहाँ तक उनके सम्मान का प्रश्न है तो यह उस समय भी उजागर हुआ, जब राणा कर्णसिंह का अभिवादन करने के लिए जहाँगीर सिंहासन छोड़कर उतर गया था।

**प्रश्न :** क्या अकबर एक राष्ट्रीय शासक था?

**उत्तर :** वस्तुतः राष्ट्रवाद की धारणा आधुनिक है, जो जनता के द्वारा राजनीति में सक्रिय भूमिका निभाने के साथ आरम्भ हुई। जनता की राजनीतिक भूमिका का तात्पर्य है कि अब वह सम्प्रभु हो गई। इस सम्प्रभुता के तहत जनता ने दो तरह का कार्य किया (1) जनता की भावना के आधार पर राज्य की सीमा का निर्धारण होता था। (2) जनता की इच्छा से शासन की प्रणाली तय होने लगी। सम्प्रभुता की पहली अभिव्यक्ति से राष्ट्रवाद को जन्म मिला और दूसरी से उदारवाद (लोकतंत्रवाद) को। इस आधार पर प्राचीन काल हो या मध्यकाल इस दौर के किसी भी शासक को राष्ट्रीय शासक नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः अकबर की धार्मिक एवं सामाजिक उदारता को भ्रमवश लोग राष्ट्रवाद समझ लेते हैं, जबकि राष्ट्रवाद के लिए राजनीति में जनता की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष राजनीतिक भूमिका आवश्यक है।

**नोट :** अकबर के शासन को मध्यकाल की सीमाओं में रहते हुए हम कुछ ऐसे महान प्रयोगों का काल मान सकते हैं, जिसमें परंपरागत रूप से चली आ रही कश्मीर से कन्याकुमारी की भौगोलिक एकता की संकल्पना को एकबार फिर से आधार प्रदान किया गया। शासन को मिश्रित आधार देते हुए अकबर ने यह प्रयत्न किया कि यह अल्पसंख्यकों तक सीमित न रहे। सुलह-ए-कुल की नीति के माध्यम से सनातन धारा की गंगा-जामुनी संस्कृति को उसने वह आधार प्रदान किया, जो भारत के राष्ट्र निर्माण की संकल्पना की न सिर्फ एक पूर्वपीठिका सिद्ध हुई, बल्कि इसे एक उन्नत मॉडल भी उपलब्ध कराया। इस बात के लिए अकबर की प्रशंसा उसके काल में ही नहीं 18वीं-19वीं शताब्दी तक के भारतीय वृत्तांतकारों ने भी की है और उसके ये आदर्श आज भी भारत के राष्ट्रीय इकाई के रूप में गठन का महत्वपूर्ण आधार हैं।



## सर्वोदय का सिद्धान्त

गांधीजी उन दोनों तरीकों के आलोचक थे जिन्हें पूँजीवादी और समाजवादी अर्थव्यवस्थाओं ने आरंभ किया था। यद्यपि उन्होंने समाजवाद को सकारात्मक दृष्टि से देखा है, फिर भी उन्होंने अनुभव किया कि यह हिंसा से बहुत घुला मिला है। “समाजवाद का जन्म पूँजीवादियों द्वारा पूँजी के दुरुपयोग के परिणाम से नहीं हुआ है। समाजवाद के सिद्धान्त को उस समय स्वीकार किया था जब दक्षिण अफ्रीका में था समाजवादियों से मेरे विरोध का मूल कारण है किसी भी स्थायी सुधार को प्रभावित करने वाले उपायों के रूप में हिंसात्मक आक्रमण “इसके अतिरिक्त समाजवाद का केवल एक ही उद्देश्य है, वह है, भौतिक प्रगति।”

पूँजीवाद और समाजवाद के विरुद्ध गांधीजी ने सर्वोदय की अवधारणा प्रस्तावित की जो तीन बुनियादी सिद्धान्तों पर आधारित थी—

1. व्यक्ति की भलाई ऐसी हो जिसमें सभी की भलाई है।
2. वकील के काम का महत्व वैसा ही है जैसे नाई के काम का होता है, जहाँ तक सभी को अपने कार्य से अपनी आजीविका अर्जित करने का वैसा ही अधिकार है।
3. श्रमिक का जीवन (मिट्टी खोदने वाले) और दस्तकार का जीवन सम्मानजनक जीवन है।
4. इसके अन्दर मानव, सभी जीव, प्रकृति, सभी के सर्वांगीण उदय पर बल है यानि कि इसमें नैतिक जीवन और अहिंसा को अनिवार्य माना गया है।

### न्यासिता का सिद्धान्त :

अर्थशास्त्र के क्षेत्र में गांधीजी के सबसे अधिक मौलिक योगदान में से एक है, न्यासिता की अवधारणा। जहाँ तक लोगों की बुनियादी आवश्यकताओं का संबंध है, पूरी समानता चाहते थे। वास्तव में वे चाहते थे कि पशुओं सहित सभी की बुनियादी आवश्यकताओं को संतोषजनक ढंग से पूरा किया जाना चाहिए। परन्तु साथ ही, वे चाहते थे कि लोग आर्थिक दृष्टि से सक्रिय रहें तथा अधिक उत्पादन के लिए प्रेरित रहें। इससे स्वाभाविक रूप से कुछ लोग अपनी आवश्यकता से अधिक उत्पन्न करेंगे। वे धनी होंगे परन्तु कोई गरीब नहीं होना चाहिए क्योंकि सभी की बुनियादी आवश्यकताएँ पूरी होंगी।

यह सुनिश्चित करने के लिए कि जो अमीर है, वे अपनी सम्पत्ति को स्वार्थी प्रयोजनों या दूसरों पर नियंत्रण करने के लिए प्रयोग न करें, इसके लिए उन्होंने शब्द “न्यासिता” बनाया। इस शब्द में निहित अर्थ को स्पष्ट करते हुए, उन्होंने कहा, “प्रत्येक वस्तु ईश्वर की है इसलिए समग्र रूप में यह उसके लोगों के लिए है, न कि खास-खास व्यक्तियों के लिए। जब किसी व्यक्ति के पास उसके आनुपातिक भाग से अधिक था तो वह ईश्वर के लोगों के लिए उस भाग का न्यायी बन गया।

उन्होंने सुझाव दिया कि “उत्तराधिकारी, के रूप में कार्यरत न्यासी को कानून के अनुसार अपना उत्तराधिकारी नामित करने का अधिकार होना चाहिए।”

### न्यास की अवधारणा में निहित विचार दोहरे थे :

1. सभी मनुष्य समान जन्म लेते हैं और इसलिए समान अवसर के अधिकारी हैं। इसके साथ ही सभी को अपनी बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति का अधिकार होनी चाहिए।
2. सभी मनुष्य यद्यपि एक समान बुद्धि और शारीरिक क्षमता से सम्पन्न नहीं होते हैं। कुछ में अन्य की अपेक्षा अधिक उत्पादन करने की क्षमता होती है। ऐसे व्यक्तियों को अपनी बुनियादी आवश्यकता से अधिक उत्पाद के न्यासी के रूप में में कार्य करने का मौका मिलना चाहिए।
3. उत्पाद के वितरण के तरीके के रूप में हिंसा और बल को बहिष्कृत किया जाना चाहिए।